



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2015; 1(13): 110-112
 www.allresearchjournal.com
 Received: 28-10-2015
 Accepted: 29-11-2015

मीनू रानी

अस्सिस्टेंट प्रोफेसर, राजकीय
 नेशनल महाविद्यालय, सिरसा,
 भारत

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में चित्रित पात्रों की मनःस्थिति

मीनू रानी

प्रस्तावना

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों में विखण्डित मानसिकता के प्रमुख कारण— विवशता, टूटन—पीड़ा, विद्रोह, कुंठा, मानसिक तनाव, रुग्णता, कामेच्छा, अंतर्मन्थन, द्वंद्व, उन्माद, संत्रास, वेदना, अवसाद, खिन्न मानसिकता, पलायन, आत्महीनता, दैन्य, दुष्चिन्ता, मनोग्रस्तता, आशा—भगनाशा एवं भावात्मक प्रवृत्तियों को स्थान देकर अपनी व्यंग्य—शैली को एक नई दिशा प्रदान की। विवेच्य उपन्यासों में इनसे जुड़े चरित्रों का उद्घाटन मानव मन में दमित वासनाओं, अंतर्द्वंद्वों, अतृप्त काम की लक्ष्य प्रेरित एवं लक्ष्य विकृत स्थितियों, दिवास्वप्नों, आत्म—भावना, प्रभुत्व—कामना, हीनभावना, काम—वासना के अंतर्गमन तथा बहिर्गमन, पलायन आदि की क्रिया—प्रतिक्रिया के संदर्भ में हुआ है।

इक्कीसवीं सदी के औपन्यासिक पात्र साधारण जन के संघर्ष के साथ चलते हैं और साधारण जन की जिंदगी को बेहतर बनाने की उसकी आकांक्षाओं से आत्मसात् करते हैं। ये उपन्यास सीधे—सीधे विघटित मानसिक—बोध से जुड़ते हैं, क्योंकि वे एक अनिवार्य कटाक्ष को अर्थ देते हैं। मौजूदा व्यवस्था में आदमी की स्थिति का यथार्थ चित्रण करते हैं, उस यथार्थ की भयावहता एवं विद्रूपता को तेजी से उभारते हैं। फलतः उस यथार्थ के बदले एक नए यथार्थ के, नई व्यवस्था, के लिए पुरानी परम्परागत व्यवस्थाओं के खिलाफ आवाज उठाते हैं। निःसंदेह इक्कीसवीं शदी के उपन्यास व्यक्ति की चिन्तानुकूल संवेदना के स्तर पर बाहरी और भीतरी मन से जबरदस्त टकराहट अनुभव करने वाले माने जा सकते हैं।

इक्कीसवीं सदी के उपन्यास सदियों से सत्य माने जा रहे सत्य तथा उससे संबंधित मूल्यों पर भी प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। आलोच्य पात्र अब तक प्रचलित सारी संबंध व्यवस्थाओं की प्रतिष्ठा और गौरव को तोड़ते हुए दिखाई देते हैं।

- हाँ! रक्षित ने कहा, मैं उनसे रिश्तों के बारे में बात करने आया हूँ।
- वो सामने जो गुलाबी बिल्डिंग हैं न! काले युवक ने हाथ से संकेत कर कहा, वहाँ आप बेखटके चले जाइए।
- तो यहाँ खटका भी रहता है? रक्षित ने पूछा।
- बरोबर रहता है, साब! युवक मुस्करा दिया, यहाँ कई तरह के लोग आया करते हैं न!
- आ रक्षित गली में चल दिया।

भीमा सेठ कभी मलिकपुर गाँव में चर्खी चला कर अपना गुजर—बसर किया करता था। जल्दी ही दिल्ली में उसने दो—चार और चर्खियाँ खरीद ली थीं। रूपए से रूपया कमाने पर उसने कुछ रिश्ते खरीद कर किराए पर लगा दिए थे। वह धनवान हो आया था। धन रक्षा के लिए उसने दो—तीन गुंडे भी पाल लिए थे। पुलिस को भी जब त बवह टुकड़ा डालता रहता।

रक्षित का हाथ भीमा सेठ की कोठी के कॉल बेल पर जा लगा। ऊपर से भीमा की दहाड़ सुनाई दी, अरे ओ कालिये! देख तो कौन है?'

ये इस प्रतिष्ठा और गौरवमुक्त होने की लड़ाई को लगातार जीते हैं। यह लड़ाई उनके जीवन बोध की तलाश का पर्याय बन जाती है। इनकी वैयक्तिक और निजी स्तरों पर अमानवीय धरातल पर जिंदगी जीने की ख्वाहिश दृष्टिगत होती है। विघटित मूल्यों पर नंगा नाच करके पात्र किसी भी सुख को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं।

'बतरा भाई! रक्षित ने धीरे से कहा, कहीं वो दड़ियल आतंकवादी तो नहीं?

- ये आप जाने जी। बतरा ने लापरवाही से कहा, हमें तो फोन से मतलब है।
- ज्यादा लालच में न पड़ो, लाल! रक्षित गंभीर हो आया, कहीं आपको लेने के देने न पड़ने लगे! यह दड़ियल हमने यहाँ की सूचनाएँ पाकिस्तान पहुँचाया करता है।

Correspondence

मीनू रानी

अस्सिस्टेंट प्रोफेसर, राजकीय
 नेशनल महाविद्यालय, सिरसा,
 भारत

इस पर बतरा का चेहरा फक्क पड़ आया। रक्षित ने कहा, अब आगे से इस बात का ध्यान रखना। हम लोग एक अच्छे नागरिक भी तो हैं न।

- ठीक हैं, बादशाहों! बतरा ने कहा, आगे से मैं ध्यान रखा करूंगा।

रक्षित ने भूपेन्द्र की केबिन में आकर थाने में फोन किया। उसने एक-दो पुलिस कर्मियों को भेजने को कहा। भूपेन्द्र को पसीना छूटने लगा। रक्षित उसे ढाढस बँधाने लगा, कोई नहीं, भूपेन्द्रजी! यों घबराया नहीं करते!

पाँच मिनट बाद एक दरोगा भूपेन्द्र की केबिन में चला आया। उसने पूछा, हॉ जी, क्या बात है?

दरोगा साहब, मुझे तीन सौ पाँच नंबर कमरे में रहने वाले ग्राहक पर शक है। रक्षित ने कहा, आप वहाँ की तलाशी लिवा लीजिए।

- चलिए! दरोगा साथ के पुलिस कर्मियों की ओर घूम गया, चलो भई!²

भले ही वह सुख-सुरक्षा का हो, सुविधाओं का हो या अनीति से जुड़ावों का इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों के पात्र अनुभव करते हैं। इसके विपरीत आम आदमी की जो भी दिशा जाती है, वहाँ से वह मुड़ जाता है, लेकिन मुड़ने पर जो निःसंगता, अकेलापन, मानसिक तनाव और बेचैनियाँ सामने होती हैं। भरसक साहसी मुद्रा वह अपनाए रखना चाहते हैं, अपनी लड़ाई से वे हारते नहीं, थकते जरूर हैं।

विवेच्य उपन्यासों से यह प्रमाणित हो जाता है कि उपलब्धि की अपेक्षा, निरंतर संघर्ष, सतर्कता और व्यक्ति की आत्मा को मुक्त रखने के कर्तव्य को न भूलने का दृढ़ निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण और अधिक प्रेरणादायक है। जो हम करना चाहते हैं, उसे कर सकने में समर्थ होना ही अपने आप में एक अच्छी जिंदगी या अच्छे चरित्र की उपलब्धि नहीं है। उस सांस्कृतिक संघर्ष, उस सतर्कता का ही नाम है, जो मानसिक, या सामाजिक राजनीतिक या आर्थिक किसी भी तरह के दबावों को अनुभव करता है और मुक्त होने की छटपटाहट को भोगता है। अज्ञान और आवश्यकता का ज्ञान सारी आधारभूत शर्तें हैं और इन शर्तों को इक्कीसवीं शदी के उपन्यासकार अपनी पूरी चेतना से जीते हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आज के आदमी की मुख्य तकलीफ ही वहीं से प्रारंभ होती है, जहाँ से अपने चारों ओर फैले सांस्कृतिक खोखलेपन की संक्रामकता को महसूस कर लेती है। तब उसके लिए चुपचाप बैठे रहना कठिन और असहाय हो जाता है।

उदाहरण देखिए—मगर क्यों? ऐसा विकर्षण क्यों? क्या हो गया गाँव को? क्या नया हो गया गाँव में? बेशक बहुत कुछ नया हो गया। वह अब धीरे-धीरे धक्के देने लगा है। मुझ बूढ़े को तो धकिया ही रहा है, उस सीधे-सादे विनम्र नौजवान बेटे को भी आहत कर रहा है।...अरे, वह गाँव जाकर इधर कितनी-कितनी चौंटे खाकर लौटता है। बहुत धीरे-धीरे हैं, जहर पीकर भी हसता रहता है, कुछ नहीं कहता है, पर अब संभवतः अति की स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। मुझे अब साफ-साफ झलक जाता है, गाँव जाने के लिए उसके भीतर उत्साह नहीं रह गया है। अब दबाव या मजबूरी में ही जाता है, अनिच्छापूर्वक। अवश्य ही यही कारण होगा कि मेले से लौट आया होगा।' भीतर-ही-भीतर संवाद चलता रहा। लड़के के निर्मल, छल-कपटहीन और पारदर्शी स्नेहिल स्वभाव से जुड़े चित्र आते रहे।³

आवश्यकता का सही मूल्यांकन ही सही स्वतंत्रता की तलाश की ओर ले जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या सचमुच उन आवश्यकताओं का कोई मानवीय संगति है जिन सांस्कृतिक विघटन लिए आज के साहित्यकार की लड़ाई जारी रहना चाहती है?

निःसंदेह इक्कीसवीं शदी के उपन्यासों में वह तीव्र उतेजना है, जो किसी भी विरोधी स्थिति के दबाव को सहन नहीं कर सकता। अधिकांश पात्रों का व्यक्तित्व दूसरों की मानसिक विघटन की लड़ाई में विकसित होता है। केवल अपनी ही जड़ताओं को कायम रखने के लिए, उनकी आजादी की लड़ाई होती है। कहा जा सकता है कि यह सांस्कृतिक विघटन का संघर्ष उन्हें कहीं नहीं ले जाता साफ शब्दों में वह नाकाफी और भटकाने वाला है। 'अरे बाबूजी, अब बवह बाप-दादे की रीति कहाँ रह गई गाँव में, मगर रहनी चाहिए, यह तो मानेंगे न? तो मैं उसे निभा रहा हूँ। आप भी निभा ही रहे हैं। मैंने सुना है कि पुराने गाँव के लोग आपस में मार-पीट भी कर लेते थे तो थाने पर नहीं जाते थे और एक-दो दिन के भीतर सबकुछ भूलकर वही पुरानी राह-रस्म और बोल-चाल चलने लगती थी। यदि किसी तरह का मुकद्दमा भी होता था तो दोनों गोल साथ-साथ हिले मिले कचहरी चले जाते थे। जो गोल का अगुआ या गाँव-घर के कद-पद में बड़ा होता था, वह दूसरे का भी खेवा-खर्च अपने पास से चलाता था। शहर जाकर साथ-साथ खाना पीना होता था। सुर्ती टोक बतकूचन के बीच इजलास अगोरकर समय काटते दोनों गोल साथ-साथ बैठते थे। जब पुकार पड़ती थी और मुकद्दमा पेश होता था तो अपने-अपने वकील को लेकर कुछ देर के लिए अलग-अलग हो जाते थे। कचहरी से छूटते ही वह अपना भाईचार बना रहता। इसीलिए कहा न, मारा-मारी भी हो तो प्रेम से। और बाबूजी, यह सब आपका दिया गाँवई संस्कार मेरे भीतर...।'⁴

इक्कीसवीं सदी का उपन्यासकार वाहयातों अस्थिर संबंधों को स्थापित करके अपने अवसाद को भूलना चाहता है। चोट खाए हुए आत्मविश्वास की पीड़ा को भुगतते हुए या तो सांस्कृतिक और भावहीन बन जाता है। आम आदमी जिंदा संवेदनशीलता की वजह से गहरी मानसिक यातना के शिकंजे में मुक्त होने की सुखी कामना में जीता रहता है। जैसे—

'उलझ गया मन विविध कर्मकांडों में और दसवें दिन तक चलता गया यह क्रम-स्नान, पिंडा-पानी, प्रदक्षिणा, दीपदान, सुबह-शाम, यंत्रवत्, एक खास तरह की जड़बुद्धि के घेरे में। अतर्क्य परंपरा के प्रति रोमांच शून्य, कुछ क्षुब्ध कि मेरा लड़का एक ही दिन में 'प्रेत' क्यों हो गया? वह भूखा-प्यासरा क्यों है? इस घंट से बूँद-बूँद रिसनेवाले पानी से उसकी प्यास जाएगी? वह आत्मा है। आत्मा को प्यास कैसी? नहीं, सब बकवास है। हाँ, शोक के वेग को रोकने का यह एक बढ़िया साधन है। मैं स्वयं उलझा अब इस जटिल परंपरा-जंजाल में। एक भवरोग की दवा यह एक भव-चक्र? अर्थात् परंपरा-चक्र! बँटकर मुड़ गया ध्यान। नित्य की परेड के अतिरिक्त दसवें-तेरहवें दिन के आयोजनों की व्यवस्था, लंबी-चौड़ी लिस्ट, भोज-भात और दान आदि, पूरी सावधानी। यह हो, यह हो, वह भी हो, हट जाता है मन शोक-प्रसंग से। उसका घाव तब-तब ताजा होता है जब-जब पुछार करने, 'दुआ' करने-अर्थात् संवेदना प्रकट करने वाला कोई निकटस्थ-दूरस्थ व्यक्ति 'क्या हुआ, कैसे हुआ और ऐसे कैसे हुआ' के मौन-मुखर प्रश्नों को शोकार्त चेहरे पर टाँगे आता है। स्थिर भाव से बैठना पड़ता है। कुछ कहना, कुछ सुनना पड़ता है। मन हलका होता है, मन भारी होता है। कुछ बल मिलता है, कुछ बल घटता है। बार-बार विपत्ति को दुहराते-दुहराते ऊब होती है, टूटता हूँ। टूट-टूटकर परंपरा में जुटता हूँ। उस दिन भी जुटा था, जब वकील साहब शेशनाग आए।⁵

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों के पात्र मात्र संबंधों की कड़वाहट का जहर अपनी आंखों से पीते हुए एक भयावह और खौफनाक मनःस्थिति में जीता है। इन उपन्यासों की उपलब्धि की बात यह है कि ये खौफ खड़ा करके मानवीय स्थितियों की कुरुपता पर चोट का अनुभव अवश्य दे देते हैं। 'माता पिता तो जो सो भाई-भावज, बहन-बहनोई तथा निर्मम द्विज समाज को फिक थी कि अब शैलजा को सादे भोजन और सादा वस्त्र धारण कर

रहना चाहिए, उससे जरा भी व्यतिरेक हुआ नहीं कि धर्म का लहराता-फहराता ध्वज गिर गया। मानो हिन्दू धर्म का लहराता ध्वज मात्र विधवाओं के हाथों में है वह गिरा नहीं कि सनातन धर्म का अस्तित्व ही मिट जायेगा। इस आधुनिक युग में जहाँ स्त्रियाँ अन्तरिक्ष पर जा रही हैं शैलजा को सीख देने वाला समाज समझ रहा था कि अब एकादशी, चतुर्दशी इत्यादि व्रत में ध्यान लगायें, अपने आपको जीते-जी मार डालें। किसी शिक्षा का, शिक्षा से होने वाले भावी विकास का शोक सन्देश में कोई स्थान नहीं था।⁵

इक्कीसवीं सदी के पात्र सांकेतिक धारणा करके ही मुक्ति के अनुभव को प्राप्त कर लेना चाहते हैं। यह मुक्ति काल्पनिक का सुख ही बनकर नहीं रह जाती है, फलतः अधिकाधिक सुख में विस्तार पाने के लिए एक सुलगी हुई स्वार्थी बेचैनी और भ्रष्ट विकलता विवेच्य अधिकांश पात्रों का चरित्र बन जाती है।

इन उपन्यासों में संग्रथित बोध हमें नहीं के बराबर मिलेगा जो मिलता है वह काफी अस्तव्यस्त और विश्लेशित रूप में है। पात्र अपने सुखों में ही इतने उलझ जाते हैं कि अपने से परे समाज के बारे में सोच ही नहीं पाते। आम आदमी जो सामने आता है वह अपने ही बिंदु से, अपने ही स्तर पर, अपने को ही पाने के चिंतन में डूबा होता है। पात्रों के इस चिंतन में विचारात्मकता या विश्लेशणात्मकता उतनी नहीं है जितनी एक भावुक और अत्यधिक संवेदनशील सोच में होती है। मानसिक विखण्डन की पीड़ा से भी अधिक उपलब्ध आजादी के वास्तविक आतंकी स्वरूप और शडयंत्रकारी व्यक्तियों के भयावह अनुभव को अभिव्यक्ति मिल सकती है। इक्कीसवीं शदी के उपन्यासों में हमें अस्तित्वादी अकेलापन अजनबीपन, आत्मनिर्वासन, बर्हिगमन, निरंतर-विद्रोह तथा बगावत की बू के दर्शन होते हैं, लेकिन फिर भी वे चेतना की ईमानदारी को ही उभारते हैं। मानसिक दबावों का बोध देने वालों के प्रति एक खुली हुई नफरत तो देखी जा सकती है, लेकिन उनके मन्तव्य की ईमानदारी की तरफ उनका ध्यान बहुत कम जाता है। न ही कहीं अपनी धारणा, अपनी दृष्टि की नवीनता और अनिवार्यता के संबंध में उन्हें आश्वस्त कर पाते हैं कि आखिर क्यों आम –जन द्वारा दिये गये सारे मोह, जुड़ाव और दुलार उन्हें घुटन का एहसास देने लगते हैं। इनकी मंशा है कि जो लोग गलत हैं, उन्हें अपनी नई पीढ़ी को स्तरों पर जीने का उत्साह देना चाहिए। यद्यपि राजनीतिक भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ या नौकरशाह और समाज की दकियानूस मनोवृत्तियों के विरुद्ध इनकी लड़ाई है। उनकी मानसिकता के बदलाव के आयोजन की अनेक तरकीबें इक्कीसवीं शदी के उपन्यासकारों ने लड़ाई हैं, ताकि टुच्ची मानसिकता में परिवर्तन लाया जा सके। इसकी इंटेसन, मन्तव्य की शुद्धता या मासूमियत पर ये उपन्यासकार बिल्कुल भी विचार नहीं करते हैं। पात्रों के शडयंत्रकारी मनोविज्ञान को अधूरा ही छोड़ दिया जाता है— फल यह होता है कि जिस सांस्कृतिक मुक्ति की तलाश होती है वह या तो मिलती ही नहीं है और मिलती भी है तो वह और भी अंतसंघर्ष और भी तनाव उत्पन्न करती है। इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकारों की दृष्टि में भ्रष्ट व्यक्तियों से समाज की सांस्कृतिक आजादी को वास्तविक और पूर्ण नहीं माना जा सकता। इनकी छटपटाहट पूरी तरह से एक मानवीय जरूरत और व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से सही है, लेकिन इससे आगे बदलाव की आवश्यकता को महसूस करना ज्यादा जरूरी है। सबसे बड़ी खामी वर्तमान आधुनिक पात्रों के चरित्र में यह है कि उसमें संकल्पशक्ति कमजोर है— संकल्पशक्ति की यह दुर्बलता। इक्कीसवीं शदी के उपन्यासों के चरित्रों से हमें अमानवीय हद तक क्रूरता मिलती है। इनसे तीव्र और आतुर सांस्कृतिक स्वतंत्रता की संवेदना है। बांझ मानसिकता के खिलाफ इन उपन्यासकारों की तीव्र विद्रोह की मनःस्थिति है। यही उनके उपन्यासों का मुख्य आकर्षण है। उपन्यास मानसिक स्थितियों का पूरा दस्तावेज होता है। यदि यह मानसिक भूगोल अधूरा छोड़ दिया जाए, उसमें केवल आत्मदृष्टि की ही प्रधानता हो तो

मनश्चेतना एकांगी और अपूर्ण मानी जाएगी। आधुनिकता की यह अवधारणा एक आयातीय है। इक्कीसवीं सदी के उपन्यास अन्य आयामों से उनको सहानुभूति दे, उनके प्रति थोड़ी उदारता से विचार करें। ऐसा सत्कर्म शतुर्मुर्ग प्रवृत्ति से जुड़े उपन्यासकार करते नहीं। अपने को ही केंद्र में रखकर दूसरों के संबंध में विचार करना व्यक्तिवादिता है। संस्कारों और परिवेश की विसंगति को आज का व्यक्ति महसूस करता है, केवल इस बिंदु पर वह आधुनिक है। सारी यंत्रणा आत्मसुख की खोज की है। इस खोज में वह किसी अन्य के कष्ट को प्रायः नजर अंदाज कर जाता है। मानसिक दबावों के अनुभव से छटपटाती हुई स्वतंत्रता की पीड़ा का बोध ही इनकी उपलब्धि मानी जा सकती है।

निष्कर्ष

इक्कीसवीं सदी के उपन्यासों के पात्र बहुत कम सोचते हैं कि वे जो करना चाहते हैं या कर रहे हैं। उसका क्या परिणाम होगा, सामानान्तर अन्य स्थितियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, मानवीय स्तर पर उनका वैसा करना कितना उचित है? आम पात्र एक तरह से निरपेक्ष हसरत को लिए, सिर्फ भटकते हैं— क्योंकि निरपेक्ष मानसिक आजादी कभी संभव नहीं है। संक्षेप में आज इनकी मुख्य पीड़ा अपने को कहीं न पाने की है। विसंगत समाज में आज कोई भी संवेदनशील व्यक्ति स्वयं को जमीन से उखड़ा हुआ पाता है। वह निर्मम अर्थतंत्र, सामाजिक सीमाओं व वर्जनाओं, भ्रष्ट-शासन व्यवस्था और सबसे अधिक अपनी ही आंतरिक भावुकताओं और दुर्बलताओं से मुक्त होने की बैचेनियों के बीच रहने की अभिशप्त है। आलोच्य उपन्यास आत्मसंघान की सारी प्रक्रियाओं से गुजरते हैं और अपनी सार्थकता के संबंध में प्रश्नानुकूल हो उठते हैं। निस्संदेह इक्कीसवीं शदी के उपन्यासकारों ने भ्रष्ट लोगों पर अंकुश लगाने का प्रयास किया है। आलोच्य उपन्यासकारों का व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली एवं लेखनी तीखी है।

संदर्भ

1. डॉ. शीताशुं भारद्वाज कृत शहंशाह—ए—तहबाजारी पृ० 150।
2. डॉ. शीताशुं भारद्वाज कृत शहंशाह—ए—तहबाजारी पृ० 159।
3. विवकी राय कृत “देहरी के पार” पृ० 22।
4. विवकी राय कृत “देहरी के पार” पृ० 28।
5. विवकी राय कृत “देहरी के पार” पृ० 128 “पानी पर लकीर” पृ० 128।